

मृतक साँप को उठाकर विष्णुगुप्त ने एक किनारे पर फेंक दिया। जैसे ही विष्णुगुप्त का हाथ सर्प से खाली हुआ तो उसे अपने हाथों में झलझलाहट महसूस होने लगी, पर चिरमिराहट सहन करता हुआ वह आगे ही चल पड़ा। जब वह कुछ दूर चल चन्द्रमा से बिखरती हुई अमृत भरी चाँदनी में आया तो उसने देखा कि सर्प के संग्राम करने से उसके दोनों हाथ और भी स्याह हो गये हैं।

विष्णुगुप्त चलते ही चलते सोचने लगा, “बड़ा विषैला सर्प था! बिना काटे ही इतना अधिक विष! किन्तु मृत्युञ्जय तो किसी गरल से भी नहीं मरता। कृष्ण क्या कालदेव के विष से मिटे थे, काले चाहे हो गये हों! शिव ने भी तो विषपान किया था। पर यह सोचने से ही तो सिद्धि नहीं मिलेगी। गारुड़ी बूटी इस समय कहाँ मिलेगी! कोसों दूर तक मनुष्य की शक्ति नहीं दिखाई देती। तो फिर चलूँ उस ओर बहती हुई अमृतमयी माँ गंगा की शरण में। कुछ देर मैं ही गरुड़ मन्त्र का उच्चारण करूँगा, विष को गंगाजल से शान्त कर दूँगा।”

विष्णुगुप्त ने गंगाजल में जल-क्रीड़ा से सर्प-विष उतारा। जब देह की ज्वाला शान्त हुई तो विष्णुगुप्त आगे बढ़ा।

राह में अनेक चित्र रचता हुआ, भविष्य को दृढ़ देखता हुआ यह पथिक अँधेरे में, पत्थरों में, धूप में बराबर चलता रहा। काँटों ने उसका मार्ग रोकना चाहा, पर वह न रुका। थकान ने उससे कहा कि विश्राम कर ले, पर वह न बैठा। नींद ने उसे दबाना चाहा, पर वह न सोया। बहते हुए पानी की तरह वह चलता ही रहा।

मंजिल तय करते हुए एक दिन सवेरे विष्णुगुप्त तक्षशिला आ पहुँचे। तक्षशिला अरुणोदय के प्रकाश में इस प्रकार दमक रही थी जैसे किसी कलाकार ने इस नगरी में अभी-अभी ताजे रंग भरे हों। शान्त वातावरण में भ्रमण करते हुए नागरिक एवं विद्यार्थी वृन्द साक्षात् सत्य-से प्रतीत हो रहे थे। विद्यालयों एवं विश्वविद्यालय के उन्नत शिखर पर इस प्रकार गर्वोन्नत थे, मानो कोई सर्वगुणसम्पन्न आचार्य संसार को शिक्षा दे रहे हों।

ज्योति-शिखा के दर्शन करते ही विष्णुगुप्त ने श्रद्धा से प्रणाम किया। प्रसन्नता से उन्होंने मन ही मन में कहा, “यही वह विद्यालय है जहाँ देश-देशांतरों के विद्वान् भी शिक्षा पाने आते हैं, जहाँ हर राजा का मस्तक झुक जाता है। संसार के अमूल्य रत्न इसी विद्यालय में भरे पड़े